अपूर्णता से पूर्णता की ओर

–श्रीराम शर्मा आचार्य

अपूर्णता से पूर्णता की ओर

भाव उत्कृष्टता से पूर्णता की प्राप्ति

भावना के आधार पर पत्थर में भगवान् प्रकट होते हैं । इस जड़ जगत् में चेतन का साधारण स्वरूप तो वह है जिसके अनुसार जीव जन्मते-मरते, सोते-खाते और अपनी यात्रा पूरी करते हैं, पर विशिष्ट स्वरूप भावना में ही सन्निहित है । बाहर से देखने में मनुष्य देवता और असुर एक-सी ही शक्ल-सूरत के होते हैं, पर उनका भीतरी स्वरूप एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होने के कारण उनका आचरण एवं व्यक्तित्व उसी के अनुसार ढल जाता है ।

बाह्य जीवन में मनुष्य जैसा भी कुछ दीखता है वस्तुतः वह उसके आंतरिक स्वरूप का प्रतिबिंब मात्र ही होता है । मोटर किस दिशा में दौड़ रही है, इसमें श्रेय मोटर का नहीं ड्रायवर की इच्छा का है । वह चाहे तो क्षण भर में उसे मोड़कर विपरीत दिशा में वापिस भी लौटा सकता है । इसी प्रकार जीवन का बाहरी ढर्रा आज जिस प्रकार का चल रहा है कल उसमें भारी परिवर्तन भी हो सकता है और वह परिवर्तन इतना बड़ा होना भी संभव है कि उसे आश्चर्य जैसा देखा या माना जाये ।

बाल्मीकि और अंगुलिमाल जैसे भयंकर डाकू क्षण भर में परिवर्तित होकर इतिहास प्रसिद्ध संत बन गए । गणिका और आम्रपाली जैसी वेश्याओं को सती-साध्वी का प्रातः स्मरणीय स्वरूप ग्रहण करते देर न लगी । विश्वामित्र और भर्तृहरि जैसे विलासी राजा उच्चकोटि के योगी बन गए । नृशंस अशोक बौद्ध धर्म का महान् प्रचारक बना । तुलसीदास और सूरदास की कामुकता का भक्ति-भावना में परिणत हो जाना प्रसिद्ध है । विशिष्ट लोगों के इस प्रकार के असंख्य चरित्र इतिहास के पृष्ठों पर पढ़े जा सकते हैं । छोटी श्रेणी में छोटे-मोटे आश्चर्यजनक परिवर्तन नित्य ही देखने को मिल सकते

हैं । इससे स्पष्ट है कि जीवन का बाहरी ढर्रा जो चिर प्रयत्न से बना हुआ होता है; विचारों में, भावनाओं में परिवर्तन आते ही बदल जाता है ।

मित्र को शत्रु बनते, शत्रु को मित्र रूप में परिणत होते, दुष्ट को संत बनते, संत को दुष्टता पर उतरते, कंजूस को उदार, उदार को कंजूस, विषयी को तपस्वी, तपस्वी को विषयी बनते देर नहीं लगती । आलसी उद्योगी बनते हैं और उद्योगी आलसग्रस्त होकर दिन बिताते हैं । दुर्गुणियों में सद्‌गुण बढ़ते और सद्‌गुणी में दुर्गुण उपजते देर नहीं लगती । ये जादू जैसे हेर-फेर आये दिन मनुष्यों के जीवन में होते हैं । इसका एकमात्र कारण इतना ही है कि उनकी विचारधारा बदल गई, भावनाओं एवं आकांक्षाओं में यदि थोड़ा भी हेर-फेर होता है तो उसकी छाया बाह्य जीवन में तुरंत ही दिखाई देने लगती है ।

संसार का जो भी भला-बुरा स्वरूप हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, समाज में जो कुछ भी शुभ-अशुभ दिखाई पड़ रहा है, व्यक्ति के जीवन में जो कुछ उत्कृष्ट-निकृष्ट है उसका मूल कारण उसकी अंतःस्थिति ही होती है । धनी, निर्धन, स्वस्थ, निरोग, अकाल मृत्यु, दीर्घजीवन, संत-असंत, मूर्ख-विद्वान्, घृणित-प्रतिष्ठित, सफल-असफल का बाहरी अंतर देखकर उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया जाता है, पर लोग यह भूल जाते हैं कि यह बाहरी भली-बुरी परिस्थितियाँ और कुछ नहीं मनुष्य के मनोबल, आस्था और अंतःप्रेरणाओं की प्रतीक हैं । भाग्य भी यदि कुछ करता होगा तो निश्चय ही उसे पहले मनुष्य की मनोरुचि में ही प्रवेश करना पड़ता होगा । जिसकी अंतः गतिविधियाँ सही दिशा में चलने लगीं उसके लिए अभीष्ट दिशा में सफलता ही मिलने वाली है । किन्तु जिसका मानसिक स्तर चंचलता, अवसाद, अविश्वास, आलस, आवेश, द्वेष आदि दोषों से दूषित हो रहा है उसके लिए अच्छी परिस्थितियाँ और अच्छे साधन उपलब्ध होने पर भी दुर्गति का सामना करना पड़ेगा ।

सौभाग्य और दुर्भाग्य यों दैवी अनुग्रह एवं कोप का, प्रारब्ध भोगों का परिणाम दिखाई पड़ता है पर गंभीरता से विचार करने पर इसी परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि यह तत्त्व केवल हमारी आंतरिक उत्कृष्ट और निकृष्ट

परिस्थितियों का ही परिणाम है । यदा-कदा अपवाद स्वरूप कभी-कभी इसमें ऐसे विपरीत उदाहरण भी देखे जाते हैं जब सुव्यवस्थित व्यक्तित्व वाले व्यक्ति भी आपत्तियों में फँसते और अस्त-व्यस्त लोग मौज मारते रहते हैं । इसमें भी उनका कोई गुप्त दोष ही कारण रहता है । अच्छे समझे जाने वाले व्यक्ति अधिकांश अच्छाइयों के होते हुए भी कुछ दोष अपने में छिपाये रहते हैं, वे दोष भी अपनी विकृतियाँ तो उत्पन्न करेंगे ही । समझा यह जाता है कि यह आपत्ति अच्छाइयों के कारण आई, यह वस्तुतः वह उनकी किन्हीं भूलों एवं त्रुटियों का ही परिणाम होता है । इसी प्रकार कई बुरे समझे जाने वाले व्यक्ति भी कुछ लाभ एवं सफलतायें उठाते हैं, यह भी उनकी किन्हीं अच्छाइयों का ही प्रतिफल होता है ।

सत्यवादी और ब्रह्मचारी व्यक्ति यदि क्रोधी स्वभाव का है तो उसके प्रति लोग विरोध एवं द्वेष रख रहे होंगे । सत्यवादिता को इसके लिए दोष नहीं दिया जाना चाहिए । इसी प्रकार कोई डाकू लूट का माल ले आता है तो इसमें उसके साहस को ही श्रेय मिलेगा । सत्यवादिता का शुभ और डकैती का अशुभ फल तो समयानुसार उन्हें मिलेगा ही, पर सज्जन में जो छोटा दोष और दुर्जन में जो थोड़ा गुण था उसका भी तो बुरा-भला फल उन्हें मिलना चाहिए । यह कहना उचित नहीं कि डकैती में धन मिलता है, डकैती तो समाज में घृणा, परलोक में नरक और राजदंड में जेल का ही परिणाम उत्पन्न कर सकती है । जो लाभ मिला वह तो उसके निरोग शरीर, मनोबल, दुस्साहस, सतर्कता, मुस्तैदी, निशानेबाजी, चतुरता आदि अनेक गुणों का ही प्रतिफल मात्र था ।

यह कहना उचित नहीं कि इस कलियुग में सज्जन घाटे में और दुर्जन लाभ में रहते हैं । सनातन नियमों में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता । सत्य और तथ्य देश, काल, पात्र का अंतर किए बिना सदा सुस्थिर और अक्षुण्य ही रहते हैं । सन्मार्ग पर चलने वाले की सद्गति और कुमार्ग पर चलने वाले की दुर्गति होने की सच्चाई में कभी भी किसी प्रकार भी अंतर नहीं आ सकता । कलियुग-सतयुग की कोई बाधा इन सत्यों को झुठला नहीं सकती

है । सूर्य सदा से गर्मी–प्रकाश का केन्द्र रहा है । जल सदा ही प्रवाही और शीतल माना जाता है । परिस्थितियवश थोड़ा अंतर कभी पड़ जाय यह बात दूसरी है, पर उनके मूल स्वरूप में स्थायी अंतर नहीं आ सकता । इसी प्रकार श्रेष्ठता के सत्परिणाम और दुष्टता के दुष्परिणामों के अतिरिक्त और किसी भिन्नता की कल्पना भी नहीं की जा सकती । यह अटल तथ्य सूर्य और चंद्रमा की तरह अपने-अपने स्थान पर अटल बने रहेंगे ।

अध्यात्म का मूल्यांकन किसी कर्मकांड, आवरण, आडंबर या दृश्य से नहीं किया जा सकता । वह तो विशुद्ध रूप से एक आंतरिक स्थिति है । जिसकी विचारणा और मान्यता उच्च आदर्शों पर अवलंबित है । वस्तुतः वही अध्यात्मवादी है जो स्वार्थ, लालसा, वासना और विलास को पृथक रख कर सोचता है । बाह्य परिस्थितियाँ इससे भिन्न प्रकार की भी देखी जाती हैं, कई ढोंगी धर्मध्वजी लोग दूसरों को ठगने के लिए धर्मात्मा का आडंबर ओढ़े बैठे रहते हैं और उसी प्रदर्शन से भोले लोगों को ठगते-खाते रहते हैं । साधु का वेश धारण किये कितने ही दुरात्मा लोग धन और माल की लूट मचाते हैं । बेचारे सरल स्वभाव वाले व्यक्ति उनके आडंबर को ही साधुता का प्रमाण मानकर अपनी गाँठ कटाते रहते हैं ।

इसी तरह ऐसा भी देखा जाता है कि साधारण गृहस्थ जैसा कार्यक्रम अपनाये हुए सादा और सरल जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति अत्यंत उच्च-कोटि की भूमिका में जाग्रत रहते हुए संत, ऋषि, महामानव, देवदूत, जीवन-मुक्त एवं नर-नारायण जैसा व्यक्तित्व बनाये रहने में समर्थ होते हैं । कई व्यक्तियों की छोटी-सी सरल पूजा-विधि उत्कृष्ट भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण महान् तपश्चर्या जैसा लाभ देती हैं और कई कष्टसाध्य योग्याभ्यास करने वाले विरक्त वनवासी भी भावना के अभाव में केवल लकीर ही पीटते रहते हैं । भूसा कूटने की तरह उनके हाथ लगता कुछ नहीं । कर्मकांड की उपयोगिता तभी है जब उसके साथ भावना का समुचित सम्मिश्रण हो, इसके बिना वह सारा क्रिया-कलाप एक विडंबना मात्र बनकर रह जाता है ।

गुरुजनों के श्रद्धापूर्वक चरण स्पर्श और लकीर पीटने की तरह पैर छू

लेने की क्रिया सामान्य होते हुए भी उसका प्रतिफल आकाश-पाताल जैसा भिन्न होता है । गंगा स्नान, देव पूजन, श्राद्ध, दान-पुण्य, व्रत-उपवास, जप-तप, हवन, तर्पण, त्यौहार, संस्कार आदि धर्मकृत्यों के साथ जितनी उच्चस्तरीय भावना जुड़ी होगी उसी अनुपात से उनका शुभ संस्कार अंतःकरण पर जमेगा और आत्मिक विकास में यह क्रियायें उतनी ही सहायक होंगी । यदि बेगार भुगतने की तरह एवं क्रीड़ा में कौतुक या चिह्न-पूजा की भाँति इन्हें निपटाया जाये तो दूसरों की दृष्टि में धर्मात्मा समझे जाने के मिथ्या-दोष का लाभ भले ही मिल जाये वस्तुतः इनसे कोई आध्यात्मिक प्रयोजन की सिद्धि न होगी ।

'अध्यात्म' की एक शब्द में यदि व्याख्या की जाये तो उसे 'उत्कृष्ट भावना' कहा जा सकता है । जिसके मस्तिष्क, मन, अंतःकरण में उच्च आदर्शवादी भावनायें उठती रहती हैं, जो अपना जीवन आदर्श की दिशा में मोड़ रहा है उसे अध्यात्मवादी कहा जा सकता है । शुभ कर्म इनके लिए एक श्रेष्ठ साधन हैं, उनके माध्यम से भावनायें कार्यान्वित होने पर संस्कार रूप धारण करती हैं और स्वभाव में सम्मिलित होकर मनोभूमि में परिपक्वता एवं स्थिरता का रूप ग्रहण करती हैं, इसलिए शुभ कर्म अध्यात्म की प्राप्ति के लिए आवश्यक अंग माने गए हैं । धर्मकृत्यों की प्रशंसा एवं उपयोगिता इसी दृष्टि से हैं, पर यदि कोई शुभ कर्म परंपरा की पूर्ति या भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाये तो वह आध्यात्मिक प्रगति में विशेष सहायक न हो सकेगा । यों शुभ कर्मों के सहारे ही आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग खुलता है, पर यह स्मरणीय है कि भावनाओं के जागरण की उपेक्षा की गई, उनका अभाव बना रहा तो फिर बड़े-बड़े कर्मकांड भी जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिए कुछ विशेष सहायक न हो सकेंगे ।

जीवन की श्रेष्ठता और उसका सदुपयोग

मनुष्य निःसंदेह इस सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति है । कल्पना कीजिए कि यह मानवीय प्रतिभा एवं बुद्धिमत्ता यदि इस धरती पर न रही होती, दूसरे वन्य पशुओं की तरह वह अपना निर्वाह तो किसी प्रकार कर लेता, पर

संसार ऐसा ही ऊबड़-खाबड़ पड़ा रहता जैसा कि सृष्टि के आदि में था । सर्वत्र नदी-नाले, गड्ढे-पर्वत, जंगल-बीहड़ ही दृष्टिगोचर होते, सुनसान, डरावना, निरुद्देश्य और कुरूप बना रहता । जिन ग्रह-नक्षत्रों में बुद्धिरहित प्राणी रहते होंगे उनकी नीरस स्थिति के साथ जब मानवीय बुद्धिमत्ता से सुसज्जित इस धरती की तुलना करते हैं तो लगता है कि हम उतनी महत्वपूर्ण स्थिति में माने जा सकते हैं जितना कि हम अपने लोक की अपेक्षा स्वर्गलोक को श्रेष्ठ मानते हैं ।

बुद्धि के उपयोग द्वारा कृषि, पशुपालन, गृह-निर्माण, वस्त्र, वस्तु विनिमय, धन, विवाह, परिवार पद्धति, शासन, समाज रचना, धर्म कर्तव्य, नीति, सदाचार, ईश्वर, भाषण, लेखन आदि की प्रक्रियाओं का आविष्कार करके मनुष्य ने अपनी स्थिति को दूसरे जीवों की तुलना में अत्यंत उच्च महत्वपूर्ण दर्जे पर पहुँचाया है । विकास द्वारा उन्नति करके तो उसने अपनी जानकारी एवं सुविधाओं को इतना बढ़ा लिया है कि आदिम युग का मनुष्य यदि उसे आकर देखे तो आश्चर्य से चकित हुए बिना न रहे । सड़कें, सवारी, रेल, मोटर, जहाज आदि द्वारा जल, थल, नभ में स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करना उसके लिए सरल हो गया है । द्रुतगामी जलचरों, थलचरों और नभचरों को जो सुविधायें प्राप्त हैं उनसे असंख्य गुनी सुविधायें मनुष्य ने अपने बुद्धिबल से प्राप्त कर ली हैं । ज्योतिष,. चिकित्सा, रसायन, शिल्प उद्योग, शास्त्रास्त्र, शिक्षा, संगीत, कला, शिल्प, मशीनें, तार, रेडियो, बिजली, मुद्रण, बैंक आदि अगणित प्रकार के आविष्कारों ने इतनी सुविधायें प्रदान की हैं कि आदिम स्थिति की तुलना में आज की स्थिति का अंतर जमीन-आसमान जैसा दिखाई पड़ता है ।

दूसरे जीव-जंतुओं की आँखों से यदि मनुष्य की स्थिति का अवलोकन किया जाये तो वैसी ही कल्पना कर सकते हैं जैसी कि हम देवताओं के बारे में करते हैं । हम अपने जीवन में जिन अभावों का अनुभव करते हैं उनकी पूर्ति कल्पना स्वर्गस्थ देवताओं में करते रहते हैं । अपनी असंख्यों कामनायें अधूरी रहती हैं, प्रयत्न करने पर भी असफलता एवं असंतोष के अवसर

सामने आते ही रहते हैं, ये अभाव खटकते हैं । स्वर्ग के बारे में हम सोचते हैं कि वहाँ हर इच्छा को तत्काल पूरा करने वाला कल्पवृक्ष मौजूद है । उसकी सहायता से जो कुछ इच्छा करे वह तुरंत पूरी हो सकती है । देवताओं को यह लाभ प्राप्त हैं ही, हमें भी होंगे-यह सोचकर स्वर्ग प्राप्ति के लिए नाना प्रयत्न किये जाते रहते हैं । सृष्टि के दूसरे अन्य जीवों को और मनुष्य जैसी सुविधा मिल सके तो आनंद की सीमा न रहे । संसार के अन्य जीव शारीरिक आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाते, उन्हें निर्वाह की समस्या हल करने के लिए सतत् प्रयत्न करना पड़ता है, कठिनाई से ही वे शरीर रक्षा जितनी सफलता प्राप्त कर पाते हैं । ऋतुओं का प्रभाव, आहार की न्यूनता, अपने से सबलों का आक्रमण उन्हें सदा कष्टमय स्थिति में डाले रहता है । मानसिक सुविधाओं का तो प्रश्न ही नहीं । बुद्धि के अभाव में प्रगति, अन्वेषण, विचारणा, सहयोग, व्यवस्था, उत्पादन जैसी आवश्यकताओं के संबंध में तो वे कुछ कर ही नहीं पाते । फलस्वरूप गया-गुजरा जीवन ही उन्हें जीना पड़ता है । मनुष्य योनि में उत्पन्न हुए दीन-हीन परिस्थिति वाले व्यक्ति को भी जो सुविधायें रहती हैं वे अन्य योनियों में श्रेष्ठ माने जाने वाले सिंह, हाथी आदि को भी प्राप्त नहीं हैं ।

संसार को बहुत ही सुंदर, सुसज्जित और व्यवस्थित बनाने में मानव प्राणी की बुद्धिमत्ता को ही सारा श्रेय प्राप्त है । विज्ञान की उन्नति करके उसने सुखोपभोग की प्रचुर सामग्री उत्पन्न की है और विचार विज्ञान का विकास करके भावना क्षेत्र की एक नई दुनियाँ का सृजन कर लिया है । प्रेम, सेवा, करुणा, मैत्री, त्याग, संयम, धर्म, उपासना जैसी उदात्त, आकांक्षा या कल्पना, वासना, विलासिता, मनोरंजन, शृंगार, सुसज्जा, सौंदर्य, संगीत, नृत्य, विनोद, कविता, साहित्य, क्रीड़ा जैसा कलात्मक और क्रोध, संघर्ष, चिंता, द्वेष, शोक, प्रतिरोध, भय जैसी निकृष्ट मनोवृत्तियों का एक पूरा संसार ही मनुष्य ने रच डाला है, वह उसमें विचरण करते हुए एक नई दुनियाँ का ही बासी बना हुआ रहता है । यह दुनियाँ पशु-पक्षियों के लिए सर्वथा अविज्ञात है, इस क्षेत्र में उनका प्रवेश नगण्य ही होता है ।

भावनात्मक सूक्ष्म ज्ञान की रचना मनुष्य की प्रतिभा का एक अद्भुत चमत्कार है । इस कल्पना जगत् के सुख-दुःख इतने संवेदनशील हैं कि स्थूल जगत् के भाव-अभाव उनकी तुलना में तुच्छ गिने जा सकते हैं । मनुष्य की रची हुई भाव-सृष्टि कैसी विलक्षण है, उस पर विचार करने से यही मानना पड़ता है कि मानव प्राणी निःसंदेह इस सृष्टि की विभूति है, उसका स्थान इस संसार में सर्वोपरि है ।

सृष्टि की सर्वोपरि सत्ता का अधिपति होने के कारण उससे यही आशा की जानी चाहिए कि वह आनंद से परिपूर्ण जीवनयापन करेगा और उसके संपर्क में जो भी आयेंगे उन्हें आनंद लाभ से लाभान्वित करेगा । इतने महत्वपूर्ण स्थान और पद पर पहुँचने के बाद निश्चय ही मनुष्य के कंधे पर कुछ उत्तरदायित्व भी आते हैं । उचित यही है कि उन्हें निबाहा जाये । निम्न स्थिति में पड़े हुए जीव का उत्तरदायित्व उतना ही छोटा होता है । यदि वह न करने योग्य काम करे, न सोचने योग्य सोचे तो उसकी प्रतिक्रिया भी सीमित रहेगी, किन्तु यदि अधिक सशक्त जीवन कुमार्ग पर चल पड़े तो उसकी हानि का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है । क्रुद्ध बकरा उतनी हानि नहीं करता जितनी उन्मत्त हाथी कर सकता है ।

सत्य पर चलते हुए, अपने उत्तरदायित्वों को निबाहते हुए सज्जनता का, विवेकशीलता का जो सुसंयत कार्यक्रम अपनाया जाता है वही श्रेयस्कर होता है । मनुष्य को जो स्थिति और सुविधा प्राप्त हैं उनका उपयोग यदि रचनात्मक विषय में करे तो उसकी प्रतिक्रिया निःसंदेह बड़ी उपयोगी और आनंदवर्द्धक होगी । जिस बुद्धि ने अन्य जीव-जंतुओं की तुलना में इतना ऐश्वर्य इकट्ठा कर लिया, इतनी प्रगति कर ली उसके लिए यह क्यों कठिन होना चाहिए कि शांतिमय जीवन स्वयं जियें और दूसरों को जीने दें । इस बुद्धिमत्ता का दुरुपयोग करके आज चारों ओर क्लेश और कलह का वातावरण बनाया जा रहा है । उन्मत्त हाथी जिस प्रकार दूर-दूर तक फसल को तोड़-मरोड़ डालता है, कितनों ही को कुचल कर रख देता है, आज वैसी स्थिति मनुष्य की हो रही है । पागल कुत्ता और पागल स्यार जिस प्रकार कितने ही लोगों को अकारण

काट लेते हैं, दूसरों को मारते और स्वयं मरते हैं उसी प्रकार की गतिविधियाँ अपनाकर मानव प्राणी अपनी उच्च स्थिति के अनुरूप उपयोगिता सिद्ध करने की अपेक्षा पागलों जैसा आचरण कर रहा है । सुख-शांति के सारे साधन मौजूद रहते हुए भी दुःखदायक और शोक-संताप की परिस्थितियाँ बनाए हुए हैं ।

विचारशीलता ही मनुष्य की एक मात्र निधि है । इसी आधार पर उसने उच्च स्थान प्राप्त किया है । इस शक्ति का यदि दुरुपयोग होने लगे तो जितना उत्थान हुआ है उतना ही पतन भी संभव है । जितने सुख-साधन जुटे हैं उतना ही क्लेश-कलह भी इकट्ठा हो सकता है । बुद्धि दुधारी तलवार है, वह सामने वाले को भी मार सकती है और अपने को काटने के लिए भी प्रयुक्त हो सकती है । उच्च स्थिति पर पहुँचा हुआ मनुष्य अपने उत्तरदायित्वों को न पहचाने, अपने कर्तव्य-कर्म के प्रति आस्थावान् न रहे तो वह अपनी विशेष स्थिति के कारण संसार का भारी अहित करने और भारी अव्यवस्था उत्पन्न करने का कारण बन सकता है । आज यही तो हो रहा है ।

मनुष्य को अपने बड़प्पन का, गौरव का अनुभव करना चाहिए । स्वाभिमान एवं आत्म-सम्मान का ध्यान रखना चाहिए । क्या सोचें और क्या करें ? इस संबंध में उसे बहुत ही दूरदर्शिता के आधार पर अपनी गतिविधियों का निर्धारण करना चाहिए । हल्के-ओछे दृष्टिकोण को अपनाकर यदि वह निकृष्ट कोटि का जीवनक्रम अपनाता है तो न केवल इस अलभ्य अवसर को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद उपलब्ध हुए नर-तन को व्यर्थ गँवा देगा वरन् अपना भविष्य भी अंधकारमय बना लेगा । जो बुद्धिमत्ता समस्त सृष्टि को चमत्कृत कर रही है वह अपने निज के जीवन का उचित कार्यक्रम निर्धारित करने में असफल रहे तो इसे एक दुर्भाग्य ही कहा जायेगा । विश्व के भाग्य का निर्माता मनुष्य यदि अपनी समस्या का हल करने के अवसर पर मूर्ख एवं अभागा सिद्ध हो तो इसे एक प्रवंचना ही कहा जायेगा ।

आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने बारे में भी सोचें, अपने

लक्ष्य की भी चिंता करें । समस्त जीवों की तुलना में अधिक ऊँची स्थिति प्राप्त करके भी, अपार सुख-साधनों की उपलब्धियाँ प्रस्तुत रहने पर यदि हम दुःख-दारिद्र्य से घिरे हैं, शोक-संताप में डूबे हैं तो इसमें हमारी कोई भारी भूल ही कारण हो सकती है । उस भूल को जितनी जल्दी खोजना और हटाना संभव हो सके उतना ही हमारा कल्याण संभव होगा ।

मनुष्य अपनी तुच्छता भी जानें

भगवान् श्रीकृष्ण ने मोहित चित्त अर्जुन को उपदेश देना आरंभ किया, एक-एक आध्यात्मिक तत्व की विशुद्ध और गूढ़ विवेचना की, संसार की नश्वरता-अनासक्ति, ज्ञान-अज्ञान, श्रद्धा-संकल्प, विचार-विवेक, तप-साधना, राग-वैराग्य, निष्काम-कर्मयोग और आत्मा-परमात्मा की प्रमाणयुक्त विवेचना करने पर भी अर्जुन का मोहभाव समाप्त न हुआ, आसक्ति न गई, अहंकार न मिटा तो भगवान् को अपना अंतिम अस्त्र उठाना पड़ा । अपने विराट् रूप का प्रदर्शन किया, उनके विकराल रूप का दर्शन कर अर्जुन काँपने लगा । उसने आश्चर्य से देखा कि वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, सूर्य, चंद्रमा सब उसी विराट् के नन्हें-नन्हें टुकड़े हैं, सारा संसार उन्हीं में समाया हुआ है । उनके भय से मृत्यु भी काँपती है, ग्रह-नक्षत्र एक स्थान पर रुकने से भय खाते हैं, दिक्पाल उनकी स्तुति करते हैं, उनका काल-उदर सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों को भक्षण करता चला जा रहा है । एक तिनका भी उनकी मर्जी के बिना हिलने-डुलने तक में असमर्थ है ।

परमात्मा के विराट् रूप का दर्शन करने पर अर्जुन को अपनी लघुता का ज्ञान हुआ । उसने समझ लिया कि यह संसार पंचतत्वों के निर्माण और विनाश का खेल मात्र है । बादलों से बनते हुए विविध चित्रों के समान इस संसार का भी रूप परिवर्तित होता रहता है । शरीर, सुख, भोग, वासनायें, तृष्णायें, आकांक्षायें सब तुच्छ और क्षणिक हैं । सत्य तो केवल परमात्मा है, उसकी अभिन्न सत्ता होने के नाते आत्मा भी चिरंतन, अजर-अमर, अक्षय और अविनाशी है, उसे ही जानने का प्रयत्न करना चाहिए । जो बात भगवान् कृष्ण के उपदेश से अर्जुन की समझ में नहीं आई उसे परमात्मा

के विश्व-रूप ने उसे समझा दिया । विशाल ब्रह्मांड का पार्थिव सुखों की अनित्यता का बोध हो जाता है, मनुष्य को अपने जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिलती है ।

रामायण में भी ऐसा ही एक प्रसंग आता है । वह घटना काकभुशुंडि के सम्मोहन की है । तब भ्रवान् राम ने अपने विराट् रूप की झाँकी दी थी । परमात्मा के उदर में ही अगणित विशालकाय ब्रह्मांडों की उनमें स्थित नदी पहाड़, समुद्र आदि को देखकर ही उन्हें अनुमान हुआ था कि मनुष्य कितना असमर्थ, असक्त और छोटा-सा जीव है, उसमें यदि कुछ शक्ति विशेषता और अमरता है तो वह उसके प्राण, मन और आत्मा के कारण ही है । उसमें कुछ प्राणियों से भिन्न विशेषतायें न रही होती तो इस विराट् विश्व में उसका अस्तित्व कीड़े-मकोड़े, भुनगों, मक्खियों-मच्छरों जैसा ही रहा होता । करोड़ों मन की तुलना में जो स्थान एक रत्ती का हो सकता है विश्व की तुलना में मनुष्य उससे भी करोड़ों गुना छोटा ही है ।

अर्जुन और काकभुशुंडि की तरह कौशल्या और यशोदा ने भी भगवान के उस स्वरूप का दर्शन पाया है । ऐसी कथायें रामायण-भागवत आदि में भी आती हैं, इन कथानकों द्वारा मनुष्य के वास्तविक रूप का दिग्दर्शन कराने का कवियों-शास्त्रकारों ने बड़ा ही कलापूर्ण, सद्मा और उद्देश्यपूर्ण विवेचन किया है । इससे उनकी बुद्धि की सूक्ष्म ग्रहणशीलता का ही पता चलता है । पर यह घटना केवल इन्हीं दो-चार व्यक्तियों के साथ घटित हुई हो, अन्यों को ईश्वर के इस विराट् रूप के दर्शन न हुए हों-ऐसा नहीं कहा जा सकता । इस विराट् ब्रह्मांड की झाँकी हर क्षण प्रत्येक मनुष्य को होती रहती है किन्तु वह बाह्य जगत में, भौतिकता में, कामनाओं, तृष्णाओं और भोग-विलासों में इस तरह ग्रस्त है कि अर्जुन, काकभुशुंडि, नारद, गरुड़, यशोदा और कौशल्या की तरह उसकी विवेक वाली आँख खुलती नहीं । लोग देखकर भी अनदेखी करते हैं । विराट् स्वरूप पर चिंतन-मनन और उसके प्रभाव आदि पर कुछ भी ध्यान न देकर केवल भोगों की काम-क्रीड़ा में लगते हैं ।

यह धरती इतनी बड़ी है कि यदि कोई इस पर चलना प्रारंभ करे तो संभवतः जीवन समाप्त हो जाये और वह इसका ओर-छोर न पा सके । यह पृथ्वी विराट् सौर-मंडल का एक अंश मानी गई है । सौर-मंडल के दो अरब नक्षत्रों में अकेला सूर्य ही पृथ्वी से १३ लाख गुना बड़ा है । 'अंटलारि' तारे के संबंध में कहा जाता है कि उसमें २१००० पृथ्वियाँ समा जायें, फिर भी काफी जगह शेष बची रहे । शुक्र में लोगों ने जीवन होने की कल्पना की है । मंगल ग्रह की यात्रा की तैयारियाँ रूस और अमेरिका में चल रही हैं, इस यात्रा में चंद्रमा एक स्टेशन के रूप में प्रयुक्त होगा । यह पृथ्वी के आस-पास के ग्रहों का एक छोटा-सा रूप है, इससे भी विशाल ग्रह-नक्षत्र विद्यमान हैं जिसकी कल्पना भी मनुष्य के वश की बात नहीं है ।

मनुष्य की आँखों में जो लेन्स लगा है उसकी शक्ति इतनी बड़ी नहीं है कि आकाश में दिखाई देने वाले प्रत्येक नक्षत्र को उतना ही बड़ा देख सके जितने बड़े वे हैं । उनका विल्कुल छोटा-सा रूप इस पृथ्वी पर दिखाई देता है किन्तु बुद्धि-बल और गणित के द्वारा जो आँकड़े प्राप्त होते हैं उनसे इन नक्षत्रों के पूरे परिमाण का पता चलता है । एक-एक ग्रह-नक्षत्र इतना बड़ा है कि इनकी नाप-तोल, दूरी, लंबाई और चौड़ाई जानना तो कठिन ही है, इस दिशा में वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किए और 'त्रिकोण पद्धति' द्वारा पदार्थों की दूरी निकालना आसान हो गया, पर अमल में वह सिद्धांत भी कठिन निकला । चंद्रमा की दूरी निकालना हो तो चार हजार मील की आधार रेखा चाहिए । तारों की दूरी की पड़ताल करने के लिए साढ़े अठारह करोड़ मील की आधार रेखा की जरूरत पड़ेगी जो इस धरती में किसी तरह भी संभव न होगी । पृथ्वी जिस कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करती है उसके आमने-सामने के दो बिंदुओं की दूरी अठारह करोड़ मील होती है । इन दूरियों के औसत आदि निकालकर विभिन्न शक्तियों की दुरबीनों और खगोल यंत्रों द्वारा यह कठिनाई दूर कर ली गई है, किन्तु यह दूरियाँ इतनी बड़ी हैं कि उनको अंकित करने के लिए गिनती भी थक जाये । बताया जाता है कि सूर्य के बाद जो दूसरा तारा पृथ्वी के सबसे नजदीक है उसकी

दूरी २,५०,0000000000 मील है । इससे आगे के नक्षत्रों की दूरी निकालना हो तो असंख्य शून्य लगते चले जायेंगे पर समस्या फिर भी हल न होगी ।

आकाश गंगा में जितने ग्रह-नक्षत्र और नीहारिकायें अपना स्थान घेरे हुए हैं, वह सिर्फ १ प्रतिशत स्थान में हैं और शेष ९९ प्रतिशत स्थान शून्य है और साधारणतया एक तारे से दूसरे की दूरी कम से कम २५000000000000 मील होती है । इनमें से कई नक्षत्र जोड़ी बनाकर, कई ५-५, ६-६ के गुच्छकों में रहते हैं और सम्मिलित परिभ्रमण करते हैं । एक ऐसे 'काले तारे' की खोज हुई है जिसका व्यास २३000000000 मील बताया जाता है । यह सूर्य से भी २० गुना बड़ा है ।

इन आकाशस्थ ग्रह-नक्षत्रों के जीवन पर दृष्टि दौड़ाते हैं तो बुद्धि लड़खड़ाने लगती है । उसकी विशालता का अनुमान तक करने की शक्ति नहीं रह जाती है । भारतीय अध्यात्म ग्रंथों में जो ब्रह्मांड का उल्लेख मिलता है वह और भी अधिक विस्मय पैदा करने वाला है । शास्त्रों के अनुसार सूर्य अपने उपग्रहों को लेकर कृत्तिका की ओर बढ़ रहा है, कृत्तिका इसी तरह 'अभिजित' की ओर, इस तरह यह विशाल ब्रह्मांड व्यापी प्रक्रिया चल रही है जिसकी कल्पना अर्जुन व काकभुशुंडि की तरह डरा देने वाली है । मनुष्य का मन इन विलक्षणताओं को देखकर विस्मय से भर जाता है तब उसे ज्ञान होता है कि वह इस विशाल सृष्टि की तुलना में कितना छोटा है, तुच्छ है ।

जितना विलक्षण यह संसार है मनुष्य उससे कम नहीं है, पर उसकी सारी विशेषता आत्म-तत्व के कारण ही है । शरीर की दृष्टि से तो वह बिल्कुल तुच्छ, दीन-हीन और पतित है । शक्ति का स्वरूप उसकी आत्मा है, इसे ही जानने का प्रयत्न करना चाहिए । इसकी सत्यता का अनुमान अपनी तुलना इस विराट् जगत के साथ करने में सहज ही हो जाती है ।

सर्वांगीण विकास और उसका आधार

जीवन का विकास सभी दिशाओं में संतुलित रूप में होता रहे तो उसकी शोभा-प्रतिष्ठा बनती है । धन का महत्व कितना ही अधिक क्यों न हो केवल उसी का उपार्जन आनंदमय परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं कर सकता । शिक्षा की महत्ता कितनी ही बड़ी क्यों न मानी जाये अन्य दिशा में यदि पिछड़ापन बना रहे तो वह पढ़ाई भी किस काम की ?

स्वास्थ्य की गणना उत्तम सुखों में की जाती है, पर सब गुण में शून्य हो केवल भैंसे की तरह शरीर ही हृष्ट-पुष्ट बना रहे तो भी उनसे कितना प्रयोजन सधेगा ? किसी पेड़ की सारी शाखायें एक ही ओर झुकी रहें तो उसके टूट गिरने का खतरा रहेगा और कुरूपता भी दीखेगी । सुंदर वृक्ष वे ही लगते हैं जो सब ओर समान रूप से फैले-फूटे होते हैं । जीवन-विकास के संबंध में भी यही बात लागू होती है ।

एक दिशा में विकसित जीवन किसी कला-कौशल के सीखने में विशेष मनोयोग लगने से, संगीत से, दूसरों की सहायता से या अन्य कारणों से भी हो सकता है । चिकित्सा, कला, संगीत, शिल्प और गुण-प्रियता पुरुषार्थ से मिल सकते हैं, पर समग्र विकास के लिए मानवीय सद्गुणों की ही अपेक्षा रहेगी । यदि व्यक्तित्व दोष-दूषणों से भरा हुआ है तो सुसंतुलित विकास कभी भी संभव न हो सकेगा । एक दिशा में थोड़ा सफल दीखते हुए भी मनुष्य अन्य सभी दिशाओं में असफल बना रहेगा । एकांगी विकास से आनंद एवं संतोष की परिस्थितियाँ किसी को भी प्राप्त नहीं हो सकतीं ।

जिस प्रकार अच्छा बीज उर्वर जमीन और उचित खाद-पानी पाकर ठीक तरह बढ़ता और फलता-फूलता है, उसी तरह जीवन के खेत में सद्गुणों के बीज उचित पुरुषार्थ और अनुकूल परिस्थितियों का खाद-पानी पाकर विभूतियों एवं समृद्धियों से पल्लवित, पुष्पित और फलित होते रहते हैं । दुर्गुणी व्यक्ति अनुकूल परिस्थितियों के होते हुए भी दीनता एवं हीनता से ऊपर नहीं उठ पाते । दुर्भाग्य उन्हें जीवन सहचर की तरह हर जगह घेरे-घेरे

ही फिरता रहता है, इसलिए जीवन विकास की बात सोचने के साथ ही हमें यह भी सोचना चाहिए कि व्यक्तित्व का सुसंतुलित निर्माण करने की दिशा में आवश्यक प्रयत्न किये जाते रहें ।

यह सोचना गलत है कि किसी भी तरीके से धन कमा लिया और मनमाना खर्च करने की सुविधा रहे तो बस फिर आनंद ही आनंद रहेगा । सच बात यह है कि दुर्गुणी व्यक्तियों के पास यदि धन बढ़े भी तो इससे उनके लिए अगणित समस्यायें तथा चिंतायें उत्पन्न होंगी । धन का सच्चा लाभ सदुपयोग से मिलता है और ऐसा सदुपयोग केवल सत्प्रवृत्ति सम्पन्न व्यक्तियों से ही संभव होता है ।

आये दिन ऐसी घटनायें देखने और सुनने में आती रहती हैं कि धन-सम्पत्ति की छीन-झपट के प्रश्न को लेकर सम्पन्न परिवारों में फौजदारी, मुकदमेबाजी, शत्रुता एवं हत्या, डकैती तक की दुर्घटनायें घटित होती हैं । लड़के कुपात्र निकल जाते हैं और जुआ, शराब, व्यभिचार एवं अनेक प्रकार के व्यसनों में पूर्वजों की कमाई को उड़ा डालते हैं । अत्यधिक कमाने की तृष्णा में संलग्न व्यक्ति समय-कुसमय का, आराम-विश्राम का ध्यान छोड़कर दिन-रात बेतरह जुटे रहते हैं और अपने स्वास्थ्य को खराब कर लेते हैं । लोभवश बेईमानी करके कितने ही व्यक्ति लोक-निंदा और परलोक में पाप के भागी बनते हैं । इस प्रकार के अनेक अनर्थ और दुःख उन लोगों को सहन करने पड़ते हैं जिनके पास धन तो है पर उसका सदुपयोग कर सकने लायक सद्‌बुद्धि नहीं रखते हैं ।

कई व्यक्ति स्वल्प साधनों की सहायता से ही अपने मधुर स्वभाव, श्रम, पुरुषार्थ, उत्साह, सूझ-बूझ और अध्यवसाय के द्वारा भारी उन्नति कर लेते हैं, किन्तु कितने ही ऐसे भी होते हैं जो भरपूर साधन-सुविधाओं के होते हुए भी आलस्य, प्रमाद, दीर्घ सूत्रता, लापरवाही, फिजूलखर्ची जैसे दोषों के कारण निरंतर हानि उठाते चलते हैं और अंत में दिवालिया हो जाते हैं । आज साधनों को बहुत महत्व दिया जाता है, पर भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि साधनों का लाभ केवल उन्हें ही मिलेगा जिनमें आवश्यक

मात्रा में सद्गुण रहे होंगे । बुरे लोग भी जो कुछ उन्नति कर पाते हैं इसमें भी अधिकांश श्रेय उन अच्छाइयों का रहता है जो बुरे लोगों में भी एक सीमा तक रही होती हैं ।

डाकू को जो सफलता मिलती है उसमें सारा श्रेय उसकी दुष्टता या अनैतिकता को ही नहीं मिल सकता । उसमें जो साहस, धैर्य, तितीक्षा, सतर्कता, निरोगता, संगठन जैसे थोड़े-बहुत गुण रहते हैं, उन्हीं के बलबूते पर उसे लाभ मिलता है । यदि गुण न हों और कोई डाकू डरपोक, अधीर, चिंतित, आरामतलब व आलसी, लापरवाह, रोगी, पृथकतावादी हो तो वह बहुत ही जल्दी विपत्ति में फँस जायेगा । केवल अनीति पर उतारू होने से ही किसी को लाभदायक स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती । चाहे सज्जन हो या दुर्जन, भले या बुरे किसी भी कार्य को सम्पन्न करने में हर मनुष्य को सुसंतुलित व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है । जिसने अपने को जितना गुणवान् बना लिया होगा वह अपने लक्ष्य की ओर उतना ही अग्रसर बन सका होगा ।

धन, शिक्षा, शिल्प, कला-कौशल, पद, यश आदि विभूतियों का उपार्जन मन को लक्ष्य में तत्परतापूर्वक संलग्न करने, परिश्रम से प्रेम करने, समय फालतू न गँवाने, चित्त को अपने अभीष्ट विषय में लगाये रहने से ही संभव होता है । अपने अभीप्सित विषय पर जिसका जितना मन लगेगा उसके लिए जितना श्रम किया जायेगा उतनी ही सफलता मिलेगी । परोपकार के श्रेष्ठ सत्कर्म कर सकना, यश और पुण्य कमाना भी उन्हीं के लिए संभव होता है जिसकी मनोभावनायें पूरी तरह उस लक्ष्य में तन्यम रहती हैं ।

ईश्वर प्राप्ति और आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति केवल वे लोग कर पाते हैं जो अपनी मनोभूमि को प्रयत्नपूर्वक दैवी गुणों से सुसज्जित और आसुरी वृत्तियों से रहित करने में प्राणपण से संलग्न होते हैं । जिन्होंने इस प्रकार आत्म-निग्रह की उपेक्षा की, दोष-दुर्गुणों के सुधारने की उपेक्षा करके केवल थोड़ा पूजा-पाठ करना ही पर्याप्त समझा, उनके लिए उस महान् लक्ष्य की प्राप्ति कभी संभव नहीं होती ।

कोई बड़ा नेतृत्व, पद या उत्तरदायित्व प्राप्त करने के इच्छुक तो सब रहते हैं, पर उसे ठीक तरह सँभाल सकने की योग्यता किन्हीं बिरलों में ही होती है । संयोगवश यदि कोई बड़ा उत्तरदायित्व मिल भी जाये तो आवश्यक गुण न रहने से ऐसे लोग अव्यवस्था फैलाते, हानि करते तथा अयोग्य सिद्ध होते हैं । जिनमें दूसरों की स्थिति, आवश्यकता और रुचि समझने की क्षमता नहीं वे उनसे ठीक प्रकार काम भी नहीं ले सकते । अपने दुर्गुणों के कारण जो साथियों की दृष्टि में घृणास्पद, उपहास योग्य एवं उपेक्षनीय बना हुआ हो वह कैसे तो नियंत्रण और कैसे काम ले सकेगा ? ऐसी दशा में मिला हुआ नेतृत्व असफल ही सिद्ध होगा ।

नम्रता और अहमन्यता यों देखने में स्वभाव की छोटी-छोटी भिन्नतायें हैं, पर उनके प्रतिफल महान् अंतर-प्रत्यंतरों से भरे होते हैं । नम्र व्यक्ति तो कुछ दिए बिना भी केवल अपनी वाणी की मधुरता और व्यवहार की शिष्टता से ही दूसरों का मन जीत लेता है, परायों को अपना बना लेता है और प्रत्युत्तर में उनका स्नेह-सहयोग पाकर सब प्रकार लाभान्वित रहता है, किन्तु जिसका स्वभाव अहंकारी एवं कर्कश है वह उनसे भी मनोमालिन्य ही पाता है जिनके लिए उसने ठोस सहायता की थी ।

एक मन सहायता का महत्व एक तोले चुभने वाली बात कहने से नष्ट हो जाता है । कढ़ाई भरे दूध में जरा खटाई पड़ने पर उसका फटना निश्चित है । श्रम, त्याग और प्रयत्नपूर्वक प्राप्त की हुई सद्भावना थोड़े से अप्रिय व्यवहार में नष्ट हो जाती है । जिनके स्वभाव में अहंकार सम्मिलित हो गया है वे अपने को सँभाल नहीं पाते । कुछ न कुछ चुभने वाला ही कहते रहते हैं, फलतः उनके मित्र घटते और शत्रु बढ़ते हैं ।

शत्रुता, द्वेष, मनोमालिन्य और लड़ाई-झगड़ों में वास्तविक कारण ३० फीसदी और स्वभावजन्य दुर्बलताओं के कारण उत्पन्न हुई गलतफहमी ७० फीसदी होती हैं । यदि स्वभाव सज्जनता का है तो उनकी फीसदी कारणों का भी परस्पर मिल-जुलकर समाधान खोजा जा सकता है, कोई मध्यस्थ भी समझौते का मार्ग ढूँढ़ सकता है । पर जहाँ स्वभाव संबंधी दुर्बलतायें भरी

पड़ी हों वहाँ अकारण ही उत्तेजना, असहिष्णुता, तुनुकमिजाजी और शंका-संदेह की दृष्टि रहने से खटपट होती रहेगी । साधारण-सी बातें तूल पकड़ती रहेंगी और लड़ाई-झगड़े का वातावरण बना रहेगा । जिन लोगों के साथ रहना और काम करना है उनसे तनाव रहने पर चित्त में खिन्नता ही रहती है । इस स्थिर खिन्नता का प्रभाव शरीर और मन पर बहुत बुरा पड़ता है, प्रगति में भारी अड़चन पैदा होती है । स्वभाव की यह छोटी-छोटी कमजोरियाँ सुविधा सम्पन्न जीवन का आनंद नष्ट कर देती हैं ।

प्रगति के लिए जिस सूझ-बूझ की आवश्यकता पड़ती है उसका विकास तभी होता है जब मन शांत और प्रसन्न रहे । संतुलित, निश्चित और प्रसन्न रहने वाले व्यक्ति का मस्तिष्क ही किसी समस्या के हर पहलू को ठीक तरह सोच-समझ सकता है और गंभीर विवेचना के साथ किसी ठीक निष्कर्ष पर पहुँच सकता है । यदि मन क्षुब्ध, खिन्न और उत्तेजित रहेगा तो आवेश और अधीरता की स्थिति बनी रहेगी जिसमें किसी प्रश्न पर केवल एकांगी विचार कर सकना ही संभव होगा । अधूरे विचार के साथ किए गए निर्णय आमतौर से गलत सिद्ध होते हैं और उनके कार्यान्वित करने से हानि ही होती है । अच्छी सूझ-बूझ सबके लिए संभव हो सकती है । केवल इसके लिए अपने स्वभाव को धीर-गंभीर बनाना मात्र पर्याप्त होता है । जो अपने स्वभाव को सुधारने का, उसे सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न नहीं करते उन्हें अच्छी सूझ-बूझ के भी काम से वंचित रहना पड़ता है ।

बुरी आदतों का परिणाम उन बुरी प्रतिक्रियाओं के रूप में प्रस्तुत होता है जो चित्त को खिन्न करती हैं । खिन्न चित्त रहने वाले की तीन चौथाई शक्ति उस मानसिक संताप से ही नष्ट हो जाती है । एक चौथाई से प्रगति के लिए कुछ ठीक से सोच सकना और जमकर कुछ ठोस काम कर सकना संभव नहीं होता । उन्नति की आकांक्षा करने मात्र से काम नहीं चल सकता, उसके लिए उचित साधन भी होने चाहिए । इन साधनों में सबसे बड़ा, सबसे प्रमुख, सबसे शक्तिशाली साधन है 'मानसिक संतुलन' और वह केवल उन्हें ही प्राप्त होता है जिनने अपने गुण, कर्म,

स्वभाव का निर्माण सज्जनोचित रीति से सम्पन्न किया है ।

प्रगति की दिशायें अनेक हैं, अनेक क्षेत्रों में जीवन बँटा हुआ है, पर उन सबका उचित विकास ऐसे स्वभाव की अपेक्षा रखता है जिसके कारण प्रतिकूलतायें-अनुकूलताओं के रूप में परिवर्तित होती रहें । साधन-सामग्री की आवश्यकता सभी लोग अनुभव करते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए जो सम्भव होता है सो करते भी हैं । पर इस तथ्य की उपेक्षा ही होती रहती है कि सत्प्रवृत्तियों के फलस्वरूप ही स्थायी सुख-शांति के साधन उपलब्ध होते हैं । जितना प्रयत्न बाह्य साधनों को जुटाने में किया जाता है, उतना ही यदि आत्म-निर्माण के लिए भी किया जाने लगे तो प्रगति की संभावना हजारों गुनी अधिक बढ़ सकती है ।

जो भीतर होता है वही बाहर प्रस्तुत रहता है । हम अपने अंतःकरण को दैवी सम्पत्तियों से सुसज्जित करें तो कोई कारण नहीं कि बाह्य जीवन में सुख-शांति, श्री-समृद्धि विभूति की प्रचुरता से वंचित रहना पड़े ।

त्यागसे जीवन मुक्त

त्याग संसार का सर्वोपरि धर्म है, जिस पर समस्त सृष्टि-क्रम चल रहा है, त्याग धरती का अमोघ विधान है । "जो प्राप्त है उसे छोड़ते रहो और आगे का वरण करो ।" यह त्याग मंत्र संसार और यहाँ के पदार्थों को नित्य निरंतर विकास तथा परिवर्तन की ओर अग्रसर करता आ रहा है । इसी से प्रेरित होकर संसार का प्रत्येक पदार्थ पद-पद पर त्याग का नैवेद्य चढ़ाता हुआ अपने विकास-पथ पर आगे बढ़ रहा है । पेड़-पौधे, पशु-पक्षी तक भी किसी न किसी रूप में संसार की यज्ञशाला में अपने त्याग की आहुति देते रहते हैं । नदी-सरोवर, चंद्र-सूर्य, ग्रह-नक्षत्र कोई भी तो स्थिर नहीं, प्रत्येक क्षण में प्राप्त स्थिति का त्याग करके नवीन का वरण करते ही रहते हैं ।

संसार का नियम ही प्राप्त का त्याग करना और नवीन का वरण करते रहना है । इस नियम को जीवन का अंग बनाकर जीवन-पथ पर चलते रहने में ही मनुष्य का कल्याण निहित है । लेने और देने, पाने और छोड़ने के विश्व-नियम को आत्मसात् करने में ही व्यक्ति का विकास निहित है । किन्तु

जब मनुष्य सृष्टि के इन स्वरों में आवाज मिलाकर नहीं गाता तो उसका जीवन गीत बेसुरा हो जाता है । लेने और देने की प्रक्रिया में मनुष्य संतुलन एवं सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता तो जीवन में विषम स्थिति पैदा हो जाती है, क्योंकि यह सृष्टि के नियम के साथ की जाने वाली असंगतता है ।

जब हम कहते हैं-"नहीं छोड़ेंगे, यह हमारा है", "ऐसे ही रखेंगे, ऐसे ही रहेंगे" और संसार का नियम कहता है-"जो प्राप्त किया है उसका त्याग करो, नवीन का वरण करो" तो इन विरोधी प्रणालियों से मनुष्य का जीवन संघर्ष का केन्द्र बन जाता है । एक ओर मनुष्य की सीमित सत्ता दूसरी ओर अमोघ विश्व-नियम, अंततः जल्दी ही मनुष्य को परास्त होना पड़ता है । जिसे वह अनाकर, अपनेपन की सीमा में सँजोकर रखना चाहता है उसे ही छीन लिया जाता है । जिसे मनुष्य छोड़ना नहीं चाहता उसे भी बरवश छोड़ना पड़ता है । धन-दौलत, ऐश्वर्य-समृद्धि, स्त्री-बेटे जिन्हें मनुष्य अपने समझता है उन्हें भी छोड़ना पड़ता है । और तो और यह देह जिसे वह अपनी मानकर चलता है वह भी एक दिन विश्व-नियम के मृत्यु करों द्वारा छीन ली जाती है ।

प्राप्त का त्याग, लेकर देने का नियम, त्याग का विधान अपार शक्तिशाली है-यह सब पर लागू होता है । यह बात अलग है कि मनुष्य इसे कैसे अपनाता है ? स्वेच्छा से अथवा बरवश । इतना अवश्य है कि स्वेच्छा से किया जाने वाला त्याग मनुष्य को संतोष एवं शांति प्रदान करता है तो बरवश कराये गए त्याग में उसे दुःख-क्लांति, अशांति-क्लेश का अनुभव होता है ।

वेद के तत्वदर्शी ऋषि ने कहा है-"**तेन त्यक्तेन भुँजीथा मागृधः ।**" अर्थात्-हे मनुष्य ! तेरे पास जो कुछ है उनका त्याग करते रहना तथा जो सहज ही प्राप्त है उसी को लेकर संतुष्ट रहना, संग्रह मत करना, लोभ न करना ।

हाँ, तो इस विश्व नियम के स्वरों में स्वर मिलकर जीवन-गति गाने पर मनुष्य का जीवन एक मधुर गीत बन जाता है, जिसमें मुक्ति, उल्लास-आनंद, सुख-शांति की स्वर लहरियाँ गूँज उठती हैं । जिस तरह सामाजिक

नियमों के अनुसार चलते रहने पर व्यक्ति अपने आप में स्वतंत्र बंधन रहित जीवन बिता सकता है उसी तरह विश्व नियम के अनुकूल चलने पर भी मनुष्य जीवन स्वाभाविक अधिकारों का पात्र बन जाता है । समाज के निमयों का उल्लंघन करने पर मनुष्य जिस तरह दंड एवं यंत्रणाओं का भागी बनता है उसी तरह विश्व-नियम के विरुद्ध चलने पर मनुष्य अपने आप में ही बंधन, जड़ता, आत्मिक, क्लेश, अशांति एवं असंतोष का भागी बनता है ।

त्याग में मुक्ति है, स्वाधीनता है और त्याग ही अन्य प्रकार की प्राप्ति का आधार है । नीड़ में आबद्ध पक्षी शावक जब उन्मुक्त हो आकाश और धरती के विशाल प्रांगण में निकल पड़ता है तो सीमित से असीमित, क्षुद्र से महान् को प्राप्त करता है तब वह सर्वत्र ही गति कर सकता है । उसके पंख नीड़ के संकीर्ण आवरण में बद्ध नहीं रहते, वह जो चाहे जितना उन्मुक्त हो सकता है ।

त्याग ही प्राप्ति का आधार है । एक का त्याग दूसरे की प्राप्ति का वरदान है । जो त्याग नहीं कर सकता उससे प्राप्त करने का अधिकार छिन जाता है । गर्भ आवृत्त शिशु अपनी माँ के प्यार, दुलार, वात्सल्य को सम्पूर्ण भाव से नहीं प्राप्त कर सक्ता किन्तु ज्यों ही वह आवरण का त्याग कर भूमिष्ठ होता है तो पूर्णत्तर भाव से माँ को प्राप्त कर लेता है । इस प्राप्ति के साथ-साथ क्षुद्र-संकीर्ण नाड़ी तथा गर्भ के बंधनों से मुक्त हो वह विराट् भूमि की छाया में विश्व-प्रांगण में प्रवेश करता है ।

त्याग विहीन, संग्रह विहीन त्याग भी मनुष्य को रिक्तता की ओर बंधन में डालता है तो संग्रह विहीन त्याग भी मनुष्य को रिक्तता की ओर अग्रसर करता है । जहाँ जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता । हम संग्रह को लें, इसलिए कि त्याग करें, उत्सर्ग करें क्योंकि हमने लिया है और आगे लेने के लिए रिक्त करना है । यह है हमारे जीवन का मूल मंत्र । बिना संग्रह के त्याग नहीं हो सकता तो बिना त्याग के संग्रह भी निषिद्ध है, अपूर्ण है ।

शास्त्रकार ने भी यज्ञावशिष्ठ को मुक्ति का आधार बताया है । त्यागमय भोग में ही जीवन की पूर्णता चरितार्थ होती है । केवल भोग ही भोग हो और त्याग न हो तो यह जीवन के लिए बंधन बन जायेगा । जब भोग की आसक्ति मनुष्य को जकड़ लेती है तो वह दिनों दिन विपत्ति और पतन की ओर अग्रसर हो जाती है ।

प्राप्ति और त्याग, लेने और देने का सामंजस्य ही एक दूसरे को प्रभावशाली बनाकर मनुष्य का मुक्ति-पथ प्रशस्त करते हैं । वृक्ष अपनी जड़ों द्वारा उपयोगी सामग्री लेता है, उसका उपभोग करता है, पत्तियों द्वारा आकाश से आवश्यक तत्वों का संग्रह करता है इसलिए कि कल फूल-पत्तियाँ, लकड़ी, छाया, गंध आदि के रूप में संसार को कुछ दे सके । यदि वह ग्रहण नहीं करेगा तो दे भी नहीं सकेगा । इसी तरह नदी चारों ओर का पानी–अन्य नदी-नालों को अपने अंग में समेटती हुई नित्य निरंतर आगे बढ़ती है । मार्ग के प्रदेशों को सरसब्ज, शीतल और तृप्त करती है और अंत में विराट् समुद्र को अगाध बनाये रखने के लिए निःशेष हो जाती है । मेघ बहुत जल समुद्र से अपने अंक में ले उड़ते हैं किन्तु वे ही धरती पर आकार बूँद-बूँद के रूप में झर पड़ते हैं, धरती की प्यास बुझाते हैं । धरती माता मनुष्य से पर्याप्त श्रम, अन्न, जल, खाद आदि लेती हैं किन्तु अपार अन्न राशि और लहलहाते खेतों का उपहार प्रदान करती है ।

माता-पिता, समाज-धर्म, संस्कृति, जन्मभूमि मानवता से हम बहुत कुछ लेते हैं । हमारा प्रौढ़ व्यक्तित्व, समृद्ध जीवन, प्रतिभा इसी का तो परिणाम है । हम भी इन ऋणों को अनंत गुने रूप में लौटाने के लिए तत्पर होंगे उसी दिन से हमारी मुक्ति यात्रा आरंभ हो जायेगी । शास्त्रकार ने कहा है-सौ हाथों से ले, हजारों हाथों से दान करें । हमें भी जीवन में प्राप्त अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता का पूरा-पूरा उपयोग कर विश्व को निरंतर देते रहने का पुनीत यज्ञ प्रारंभ कर देना है, तभी जीवन की सार्थकता हो सकेगी ।

त्याग करें, पर किसका

त्याग जीवन का एक आवश्यक धर्म है, जीवन-शोधन का राजमार्ग है । प्राप्ति और प्रगति का नवचरण है-त्याग । यह अशुभ के स्थान पर शुभ की प्रतिष्ठा का नियम है । एक को छोड़ने पर ही दूसरे की प्राप्ति संभव होती है । रखा हुआ कदम उठाकर वर्तमान आधार पर छोड़कर ही पथ पर आगे नवचरण रखा जा सकता है । पेट में अवशेष तत्व (मल) का त्याग करने पर ही भोजन की रुचि पैदा होती है । शुद्ध वायु ग्रहण करने के लिए फेफड़ों में स्थित अशुद्ध वायु को छोड़ना पड़ता है । नव शरीर धारण करने के लिए एक दिन जर्जर शरीर का भी त्याग कर देना पड़ता है । संग्रह करने से, पदार्थों को चिपकाये रहने से जीवन गति में विषमता पैदा हो जाती है । रुका हुआ पानी सड़ने लगता है । पेट यदि खाये हुए पदार्थों को अपने अंदर ही संग्रह करता रहे तो अनेक बीमारियाँ पैदा होकर शरीर में नाश की स्थिति पैदा हो जायेगी । हृदय रक्त की वितरण व्यवस्था में संग्रह बुद्धि से काम ले तो शरीर की चैतन्यता ही नष्ट हो जायेगी ।

इस प्रकार त्याग जीवन का एक आवश्यक ही नहीं अनिबार्य नियम है । त्याग बिना विकास, प्रगति, उन्नति का पथ प्रशस्त नहीं होता । जब हम किन्हीं पदार्थों-परिस्थितियों यहाँ तक कि विचारों-भावनाओं में बँधे पड़े रहते हैं तब तक अन्य विषयों की ओर हमारी गति ही नहीं होगी, इसलिए किसी वस्तु या विषय विशेष से बँधना, उसमें लिप्त रहना तो सर्वथा त्याज्य है । जो कुछ आपके पास है, आप जो कुछ भी जानते हैं उसे अपनी उन्नति का आधार बना सकते हैं । जिस सीढ़ी पर आप खड़े हैं उसका सहारा लेकर ऊपर उठ सकते हैं लेकिन अंततः सीढ़ी आपको छोड़नी ही पड़ेगी । यह असंभव है कि आप उस पर खड़े भी रहें और ऊपर भी पहुँच जायें ।

जीवन की पगडंडी बड़ी लंबी है, संसार का क्षेत्र वड़ा विस्तृत है । आगे बढ़ने के लिए, प्राप्त करने के लिए आपको नित्य त्याग करना पड़ेगा ही । यहाँ कोई भी ऐसा धाम नहीं है जहाँ पहुँचकर कह सकें 'बस हमारी यात्रा पूरी हो गई, अब यहाँ से हटना नहीं पड़ेगा ।' जब तक जीवन है संसार तब

तक हमें छोड़ना पड़ेगा, त्याग करते रहना होगा ।

इसलिए त्याग कीजिए 'मैं' और 'मेरेपन' का ताकि आप 'परमसत्ता' की अनुभूति कर सकें । जब तक 'मैं' है आप परमात्मा की विराट् सत्ता की अनुभूति प्राप्त न कर सकेंगे । 'मेरेपन' के कारण वस्तुओं, पदार्थों, विषयों की सीमा से बाहर न निकल सकेंगे, ऐसी स्थिति में आप विश्वचक्र की गति से पिछड़ जायेंगे । चूँकि सारा संसार ही त्याग-धर्म पर चल रहा है अस्तु संग्रह और रोके रखने की वृत्ति आपके जीवन में संघर्ष पैदा कर देगी । यहाँ का धर्म है कि विश्व जीवन को गति देने के लिए कुछ न कुछ त्याग करते रहो और जब आप चाहेंगे 'मैं नहीं दूँगा', 'मैं नहीं छोड़ूँगा' ऐसी स्थिति में विश्व-प्रकृति के विरोध का सामना करना पड़ेगा और तब आपको विवश होकर छोड़ना पड़ेगा, एक पराजित योद्धा की तरह । फिर क्यों न स्वेच्छा से त्याग करके विश्वक्रम में सहयोग दिया जाये ? इससे दो लाभ होंगे, एक स्वधर्म पालन करने का संतोष, दूसरे हमारा जीवन एकांकी-संकीर्ण न रहकर विश्व जीवन से संयुक्त हो जायेगा । हम जीवन की उच्च भूमिकाओं में प्रवेश पा सकेंगे ।

चूँकि त्याग एक को हटाकर दूसरे की प्रतिष्ठा का अवसर देता है, इसलिए मन, कर्म, वचन से उन सभी अशुभ बातों का त्याग किया जाये । अशुभ का त्याग करने पर ही शुभ की प्रतिष्ठा संभव होगी । जब तक हमारे विचार, भावना तथा कर्मों में अशुभ का बोलवाला है तब तक शुभ को स्थान कैसे मिलेगा ? जिस तरह द्वार के किवाड़ को खोलते ही सूर्य प्रकाश सहज ही भवन को प्रकाशित कर देता है उसी तरह जीवन से अशुद्ध तत्वों को निकाल देने पर शुभ का उदय अपने आप हो जाता है, बुराइयों के छूटते ही अच्छाइयाँ स्वतः पैदा हो जाती हैं । क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, लोभ आदि बुराइयों के छूटने पर दया, प्रेम, करुणा, श्रद्धा, तितीक्षा, शम, दम आदि सततत्वों का उदय होने लगता है ।

हमें उन सभी कार्य, व्यवहार और प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिए जो अशुभ से, असत्य से प्रेरित हैं, जिनका परिणाम सदैव दुःखदायी और पतन की ओर ले जाने वाला होता है और जो असुंदर है । विषय-वासना और उनसे

प्रेरित भोगों का त्याग करना आवश्यक है, क्योंकि इनके रहते हुए जीवन में उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा संभव नहीं होती । मनुष्य की शक्तियाँ अस्त-व्यस्त एवं क्षीण हो जाती हैं, इनमें लिप्त रहने से आध्यात्मिक एवं भौतिक किसी भी क्षेत्र में ऐसी सफलता नहीं मिलती जिससे संतोष मिल सके । व्यक्ति की दिनों-दिन विषय-वासनाओं में आसक्ति बढ़ती ही जाती है और वह इनके जंजाल से छूट नहीं पाता । इनसे कई मानसिक जटिलतायें भी दिनों-दिन बढ़ती जाती हैं, विषय-भोगों का चिंतन तो जीवन में कई तरह की विषमतायें पैदा कर देता है । शास्त्रकार ने लिखा है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेपषूजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

अर्थात् "विषयों का चिंतन करने से उनमें आसक्ति पैदा हो जाती है । विषयों की आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना यदि पूर्ण न हो तो क्रोध की उत्पत्ति होती है ।" इस तरह विषयों के चिंतन मात्र से ही अनेकानेक मानसिक जटिलतायें उत्पन्न हो जाती हैं और मनुष्य अपने श्रेय-पथ से विचलित हो जाता है ।

लिप्सा चाहे विषय भोगों की हो या धन-दौलत की या पद-प्रतिष्ठा की, उसे मानसिक और व्यवहारिक क्षेत्र से सर्वथा दूर करने का प्रयत्न किया जाये । मन में रहने वाली उस इच्छा एवं रुचि तक का भी त्याग कीजिए जिससे विषय-भोगों की तृष्णा बढ़े, जिनसे लोभ, मोह, अभिमान आदि को पोषण मिलता हो ।

ऐसे भोजन का त्याग करना चाहिए जिससे स्वाद में आसक्ति बढ़ती हो, जिससे आलस्य-प्रमाद बढ़ता हो, जो तामसी, बासी, गंदा और किसी का जूठा हो, जो बेईमानी की कमाई से प्राप्त हुआ हो । शुद्ध, सात्विक, ताजा, हल्का, पौष्टिक और पसीने की कमाई से प्राप्त हुआ भोजन ही शरीर को स्वस्थ व ताजा रखता है ।

वाणी से असत्य वचन, चापलूसी, परनिंदा, कटुभाषण, व्यर्थ वार्तालाप का त्याग करना चाहिए क्योंकि ये अशुभ और अनैतिक हैं, इनसे जीवन में

कलह, पश्चाताप, लड़ाई-झगड़े, अशांति पैदा हो सकते हैं । परस्पर के संबंध खराब हो जाते हैं । उन सभी दृश्यों तथा प्रसंगों से दूर रहें जिनसे दूषित मनोभावों-वासनाओं को पोषण मिले । मनुष्य जो कुछ भी देखता है उसकी प्रतिक्रिया मन पर होती है, उस दृश्य से संबंधित जो वासना मन में होती है वह प्रबल हो उठती है और मनुष्य को वैसा ही करने की प्रेरणा देती है ।

किसी भी स्थिति में बुरे काम करना, बुरा सोचना त्याज्य है । इतना ही नहीं बुरा देखने और सुनने से भी दूर रहना अच्छा है । इस तरह जीवन के सभी क्षेत्रों में अशुभ-असुंदर का त्याग करना चाहिए जिससे शुभ का उदय हो ।

कई बार हम लोग किन्हीं गलत प्रेरणा, उत्तेजनाओं से उत्तेजित हो मनोभावों में त्याग का विकृत रूप अपना लेते हैं । साधन-वस्तु अथवा अपनी जिम्मेदारी और कर्तव्यों का त्याग करते हैं, कई घर-बार छोड़ देते हैं तो कोई वस्त्र या वस्तु विशेष का त्याग करते हैं लेकिन इनसे तो त्याग की आवश्यकता पूर्ण नहीं होती, न उसकी परिभाषा ही बनती है । त्याग का मूलाधार मनुष्य की मनोस्थिति है, इच्छा और मनोकामनाओं का त्याग, अहंकार, स्पृहा, मोह मनोभावों का त्याग ही सच्चा त्याग है । जब तक मनुष्य इन दूषित मनोभावों का त्याग नहीं करता तब तक उसे शांति और संतोष की प्राप्ति नहीं होती, चाहे वह बाहरी त्याग के कितने ही प्रयत्न क्यों न करता रहे । गीताकार ने इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है-

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमान्श्चरति: निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥

"सभी कामनाओं को छोड़कर, सब ओर से निःस्पृह, ममता रहित, अहंकार का त्याग करने वाला शांति को प्राप्त करता है ।"

हम सम्पत्ति का त्याग करते हैं किन्तु मन में स्थित लोभवृत्ति को नहीं छोड़ते, घर-परिवार का त्याग करते हैं किन्तु ममता, मोह का त्याग नहीं करते, स्थान, पद, अधिकार छोड़ देते हैं किन्तु अहंकार नहीं छोड़ते, इसी कारण हम सदैव श्रांत और असंतुष्ट बने रहते हैं । त्याग यदि सच्चे मन से

किया होता है तो उससे शांति, आत्म-सुख की प्राप्ति होती है किन्तु हम आवेश में आकर या दिखावे के लिए बाहरी त्याग करते हैं, आंतरिक प्रेरक हेतुओं का त्याग नहीं करते और इनके छोड़े बिना कहीं भी एकांत, वन, गिरि, गुफाओं में ही क्यों न रहा जाये शांति नहीं मिलती ।

इस तरह अपनी दूषित कामनाओं, अवांछनीय इच्छाओं, दुष्ट वासनाओं तथा दूषित मनोभावों का त्याग ही सर्वोपरि त्याग है । इन प्रेरक हेतुओं का त्याग न करके जो प्रवृत्तियों का बलात् त्याग करता है, गीताकार ने उसे दंभी बतलाया है । ऐसे व्यक्ति अपने आदर्श से जल्दी ही विचलित हो जाते हैं, जिन्होंने शरीर क्रिया का त्याग किया और मन से विषयों का चिंतन करते हैं ऐसे लोग पद-भ्रष्ट हो जाते हैं । योग भ्रष्ट होने वाले साधक इसी श्रेणी के होते हैं ।

आत्म-भावना से आत्म-कल्याण

देश, काल और कारण भाव से प्रत्येक व्यक्ति में एक तत्व सभी की आत्मा है । मनुष्य शरीर नहीं है, वह परमात्मा का अविनाशी अंश जीवात्मा है । देश-काल आदि से परे होने के कारण वह सर्वत्र एक ही है । यह तत्व बुद्धि से भी परे हैं । बुद्धि का काम केवल दृश्यमान जगत् तक ही सीमित है, किन्तु आत्म-तत्व सम्पूर्ण विश्व में समाविष्ट है । बुद्धि को जब उसी में अंतर्हित कर देते हैं तब वह परिलक्षित होता है । यद्यपि वह मन के संकल्प से परे है तो मन को जब उसमें विलय कर देते हैं तो आत्मानुभूति होने लगती है ।

आत्मा जिस प्रकार आप में विद्यमान है उसी तरह संपूर्ण प्राणियों में भी वही समाया है । एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से प्रेम होना एकत्व का भाव है जो आत्मा की देन है । प्रत्येक व्यक्ति इस तरह दूसरों से प्रेम करता है वह प्रेम उसे ही मिलता है । सबके लिए उपकार की, भलाई की भावनायें अपने लिए ही लौट आती हैं । बाह्य दृष्टि से कोई यह भले ही सोचे कि उपकारकर्ता को श्रेय का दान करने वाले को घाटा उठाना पड़ता है किन्तु ऐसी बात नहीं है । लोकसेवा एक प्रकार की आत्म-सेवा ही है, इससे

मनुष्य के आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है ।

दूसरों का अनिष्ट करके, उन्हें कष्ट और क्लेश पहुँचाकर अपने सुख-साधन की चेष्टा करना उचित नहीं है । इसमें स्वयं को भी दुःख-कष्ट तो उठाना पड़ता ही है, पापों का एक बनाया गट्ठर सिर पर और सवार हो जाता है । उसके लिए चतुर्दिक भय और यातनाओं के दिग्दर्शन होंगे, कभी शारीरिक कष्ट, कभी राज-दंड का भय । लोक-निंदा तथा घृणा का पात्र बनकर समाज में रहना कठिन हो जाता है । यह स्थिति मनुष्य अपने क्षुद्र अनात्म भाव से बनाता है और उसका दंड भी भोगता है ।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य स्वार्थवश दुष्कर्म करते हैं, इससे उनकी दुर्गति होती है किन्तु जो सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मदृष्टि से देखते हैं उनके लिए जीवन-जंतु, कीट-पतंग का कोई भाव नहीं आता । सभी प्राणी ईश्वर के बालक हैं, परमात्मा ही उन सबमें आत्म-रूप से विराजित है इसलिए उन सभी का आदर करना चाहिए, सुख पहुँचाना चाहिए । किसी को दुःख न मिले, किसी को त्रास न दें, सबके साथ मधुरता का व्यवहार हो तो इसे ईश्वर की सच्ची भक्ति मानेंगे और उसके प्रतिफल भी आत्म-कल्याणकारक ही होंगे ।

पूर्णता की प्रार्थना

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी समस्त सम्पत्ति को दोनों पत्नियों में बराबर बाँटकर गृह-त्याग के लिए उद्यत हुए । मैत्रेयी को संतोष न हुआ और आखिर वह पूछ ही बैठी-"भगवन् ! क्या मैं इनको लेकर जीवन-मुक्ति का लाभ प्राप्त कर सकूँगी ? क्या अमर बन जाऊँगी ? आत्म-संतोष प्राप्त कर सकूँगी ?" महर्षि ने अपने चिंतन का क्रम तोड़ते हुए कहा-"नहीं ! ऐसा हो सकेगा ।" साधन-सम्पन्न सुखी जीवन जैसा तुम्हारा अब तक रहा इसी तरह आगे भी चलता रहेगा, अन्य सांसारिक लोगों की तरह ही तुम अपना जीवन सुख-सुविधा के साथ बिता सकोगी ।"

मैत्रेयी का असंतोष दूर नहीं हुआ और वे बोलीं-"येनाहां नामृतास्यम् किमहं तेन कुर्याम् ।" "जिससे मुझे अमृतत्व प्राप्त न हो उसे लेकर मैं क्या करूँगी ?

देव ! मुझे साधन सुख-सुविधा सम्पन्न सांसारिक जीवन नहीं चाहिए ।"

"तो फिर तुम्हें क्या चाहिए मैत्रेयी ?" महर्षि ने पूछा और मैत्रेयी की आँखों से अश्रुधारा बह निकली । इसका हृदय सम्पूर्ण भाव उमड़ पड़ा उस दिन । मैत्रेयी ने महर्षि के चरणों में सिर झुकाते हुए कहा-

"असतो मा सद् गमय, तमसो मां ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतंगमय । आविरावीर्मा ऐधि रुद्र यत्ते दक्षिण मुखं तेन माँ पाहि नित्यम् ।"

"हे प्रभो ! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले जाओ, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत्यु की ओर गति प्रदान करो । देव ! हे प्रकाश ! आप चिर-प्रकाश बनकर मेरे जीवन में प्रकाशित हो उठें । रुद्र बनकर मेरे समस्त पाप-रूपी अंधकार का नाश कर दें । अपने प्रेम स्वरूप आनंदमय का दर्शन देकर मुझे कृतार्थ करें, जिसकी छाया में मैं चिरकाल तक का परित्राण प्राप्त करूँ ।"

मैत्रेयी ने महर्षि के सान्निध्य में सुख, समृद्धि, सम्पन्नता का जीवन बिताया था, किन्तु उसके अंदर का यह प्रश्न अभी तक अधूरा था । उसका समाधान अभी तक नहीं हो पाया था ।

हम जीवन-भर नाना प्रकार की सम्पत्ति, ऐश्वर्य, वैभव एकत्रित करते हैं । आश्रय, धन, नाना पदार्थ बहुमूल्य सामग्री जुटाते हैं और अंतर में स्थित मैत्रेयी को सौंपते हुए कहते हैं-"लो ! इससे तुम्हें प्रसन्नता होगी, आनंद मिलेगा ।" अनेकानेक सामग्री हम जुटाते हैं किन्तु अंतर में बैठी मैत्रेयी कहती ही रहती है-"येनाहां नामृता स्याम किमहं तेन कुर्याम् ।" इन सब सामग्रियों में जीवन के शाश्वत प्रश्न का समाधान नहीं मिलता और निरंतर छटपटाती रहती है । उस महत्वपूर्ण तथ्य की प्राप्ति के लिए जो उसे सत्य, ज्योतिर्मय अमृत्व की प्राप्ति करा सके । सब ओर से उसे परित्राण देकर आनंदमय बना सके ।

मैत्रेयी चाहती थी उस परम तत्व का साक्षात्कार, एकानुभूति, नित्य-दर्शन जो सत्य, ज्योतिर्मय स्वरूप है, जो उसके जीवन का चिर-प्रकाश

बने। रुद्र बनकर उसके समस्त पाप-तापों को नष्ट कर दे और उसे परित्राण देकर निर्भय बना दे।

मैत्रेयी ने अपने अनुभव की कसौटी पर जान लिया था संसार और इसके सकल पदार्थ, सम्बद्ध नाते-रिश्ते मरणशील हैं, इनका पर्यवसान अंधकार और असत्य में ही होता है। दैहिक, दैविक, भौतिक पाप-तापों की पीड़ जीव को सदैव ही अशांत-भयभीत बनाये रखती है।

मनुष्य नाना पदार्थ, उपकरणादि संग्रह करता है। धन, सम्पत्ति जुटाता है, बड़े-बड़े महल बनाता है, देह को नाना भाँति सँजोता-सँवारता है। रात-दिन इन्हीं को आधार बनाकर जुटे रहने से इनके प्रति मनुष्य में एक तरह की आसक्ति एवं ममता उत्पन्न हो जाती है। धीरे-धीरे यह अभ्यास इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि मनुष्य इन्हीं उपकरणों को सामग्री, सम्पत्ति, संबंधों को सब कुछ मानकर इन्हीं का अवलंबन लेकर चलने लगता है किन्तु संसार के नियम के अनुसार ये मिट्टी के घरोंदे क्षण-क्षण में गिरते-पड़ते रहते हैं, परिवर्तित होते रहते हैं। संसार और इसके पदार्थ बनते-बिगड़ते रहते हैं कोई तो स्थिर नहीं रहता। मनुष्य का शरीर ही वृक्ष के पत्ते की तरह एक दिन झड़ जाता है, वह भी तो स्थिर नहीं रहता। जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब ही तो असत्य है, मरण-धर्मा है, अंधकारमय है।

मनुष्य इनका अवलंबन लेकर क्षण-क्षण इनके वियोग, रूपांतर परिवर्तन के साथ-साथ ही मृत्यु का अनुभव करता है। जिसे सत्य मान लिया गया था वे तो स्वप्न की तरह असत्य सिद्ध होते हैं, कृत्रिम प्रकाश के बुझ जाने पर अंधकार के सिवा कुछ भी नहीं रहता। इससे मनुष्य क्षण-क्षण मृत्यु, असत्य और अंधकार में ही भटकता है। भय, आशंका, क्लेश, पाप-ताप उसे क्षण-भर भी तो स्थिर नहीं रहने देते-यह आवर्तनशील श्रम चलता ही रहता है और इसका कोई अंत ही नहीं होता।

इसीलिए मैत्रेयी को इन सब वस्तु, पदार्थ, सम्पत्ति, समृद्धि के परे किसी ऐसी वस्तु की अभिलाषा थी जो इस तरह के मरणधर्मा, प्रत्यावर्तन,

स्वप्रवत्, असत्वता, परिणाम में अंधकार से सर्वथा मुक्त हो । जिसे प्राप्त करने के बाद फिर छोड़ने या बदलने का कोई प्रश्न ही उपस्थित न हो जो मृत्यु से अतीत सत्य, ज्योतिर्मय दिव्य रूप हो-ऐसा अमृतत्व चाहती थी मैत्रेयी ।

लेकिन हम शक्ति और युक्ति द्वारा संसार के पदार्थों में उसे ढूँढ़ते हैं, नाप-जोख करते हैं । नाना साज-सामान एकत्र करते हैं और अंतर में विराजमान मैत्रेयी से कहते हैं-"लो देवि ! इन्हें ग्रहण करो और सुखपूर्ण जीवन बिताओ ।" किन्तु वह हर बार अपना असंतोष प्रकट करते हुए पूछती है-"क्या इससे मुझे अमरत्व की प्राप्ति हो सकेगी ?" "नहीं ।" "तो फिर जो मैं चाहती हूँ वह तो यह नहीं ।" "येनाहं नामृता स्याम् किमह तेन कुर्याम् ।" "जिससे मुझे अमृतस्वरूप की उपलब्धि न हो उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? और वह नित्य निरंतर ही अश्रुभरे नेत्रों और व्याकुल हृदय से प्रार्थना करती हैं-

"असतो मा सद् गमय, तमसो मां ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतंगमय । आविरावीर्मा ऐधि रुद्र यत्ते दक्षिण मुखं तेन माँ पाहि नित्यम् ।"

"हे चिरंतन सत्य ! मेरे अंतर और बाह्य सर्वत्र ही विराजमान सत्य मुझे असत्य की सीमा से निकाल कर अपने में मिला लो । जग के असत्य पदार्थों को हटाकर अपने सत्य स्वरूप भवन में ले चलो जहाँ 'आप हैं' आपके सिवाय कुछ भी तो नहीं है ।"

"ज्योतियां यद् ज्योति" सर्व लोकों में ज्योतियों की भी परम-ज्योति, कोटि-कोटि सूर्य सम आपकी परम-ज्योति व्याप्त है । हे ज्योतिर्मय ! अपने पावन स्पर्श से मुझे ज्योतिर्मय बना दे, जिससे अंधकार के समस्त परिवेष्ठनों से मुक्त होकर मैं भी ज्योतिर्मय बनूँ ।

"हे अमृत ! रस ! परमानंद के धाम ! सर्वत्र आप ही अजर-अमर, अविनाशी बन व्याप्त हैं, यह जगत् आप में ही धारण, पोषण, विनाश प्राप्त करता है किन्तु आप सदा-सदा गंभीर, स्तब्ध, एकरस बने रहते हैं । आपका

कोई रूप, सीमा, आयु नहीं, अपने इस अमृत स्वरूप में मिलाकर मुझे भी अमर्त्य बनावें ।''

"हे प्रकाश ! मुझे अपने प्रकाश से जगमग-जगमग कर दो । अपनेपन, अहंकार, राग, आसक्ति के समस्त अंधकार का उच्छेद करके पूर्णरूपेण प्रकाशमय कर दो ।''

"हे रुद्र ! अपने प्रचंड ताप से मेरे समस्त पापों को भस्मीभूत कर दो । मेरे अंतर-बाह्य जीवन में जो भी दुश्चेष्टा, दुर्भावना, दुष्कर्म आदि पाप हों उन्हें अपने रुद्र ताप से नष्ट कर दो तब आपके आलोक-प्रकाश की निर्विकारी सत्ता ही मुझमें शेष रहेगी । हे प्रभो ! आप अपने प्रसन्न, मधुर, आनंदमय दर्शन देकर मुझे कृतार्थ करें । हे देव ! तब मैं आपका ही निवास बनकर सर्व ओर से परित्राण पा सकूँगी ।''

अंतर में विराजमान मैत्रेयी अंतरात्मा की इस प्रार्थना को हम एकाग्रता के साथ सुनें । उसके स्वर में स्वर मिलाकर गायें, प्रबल जिज्ञासा, उत्कृष्ट इच्छा अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ हो । हमारी यह प्रार्थना किसी तरह की सौदेबाजी लेन-देना या सँजोकर रखने की बात बीच में न हो । संसार में विचरण करते हुए हम उसी को ग्रहण करें जो हमारी आत्मा की चिर-इच्छा को पूर्ण करे, उसे सत्य अमृत-ज्योति की प्राप्ति करावे । जो हमें अमर्त्य प्रदान न करें उसे छोड़ते जायें ।

''येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम् ।''

यह मंत्र हमारा जीवन-मंत्र बन जाये ।

卐

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा